आखर हिंदी पत्रिका; e-ISSN-2583-0597 खंड 6/अंक 2/जून 2026

Received: 1/06/2026; Accepted: 14/6/2026; Published: 28/06/2026

दलित विमर्श की विरासत और गजानन माधव मुक्तिबोध

डॉ. राजीव कुमार

सहायक प्राध्यापक

हिन्दी विभाग

जे. डी. एंड. डी. आर कालेज, मुंगेर

डॉ. राजीव कुमार, दलित विमर्श की विरासत और गजानन माधव मुक्तिबोध, आखर हिंदी पत्रिका, **खंड 6/अंक 2/जून 2026**,(182 -186)

This work is licensed under CC BY-NC 4.0

https://doi.org/10.5281/zenodo.21441072

शोध- सार : गजानन माधव मुक्तिबोध हिन्दी के अत्यंत महत्त्वपूर्ण कवि एवं आलोचक हैं। इस शोध-आलेख में आलोचक मुक्तिबोध के महत्त्व के आलोक में दलित विमर्श के विकास में उनके आलोचनात्मक अवदान को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। मुक्तिबोध का सम्पूर्ण साहित्य मानवता के पक्ष में खड़ा दिखाई देता है। बेहद सचेत दृष्टि से वह आलोचना-कर्म के दायित्त्व का निर्वाह करते हैं। दलित विमर्श के संगठित रूप से हिन्दी साहित्य में आगमन से पूर्व वह उसकी विरासत का निर्माण अपनी आलोचना से करने का प्रयास कर रहे थे। उनके इसी योगदान को यहाँ समझने एवं विवेचित करने का प्रयास किया गया है।

बीज -शब्द : दलित विमर्श, वर्ग, जाति, संत साहित्य, भक्ति आन्दोलन, प्रगतिशील साहित्य।

प्रस्तावना : दलित विमर्श समकालीन साहित्य का एक प्रमुख स्वर है। साहित्य के क्षेत्र के विस्तारीकरण में इसकी प्रमुख भूमिका है। ऐसे में उसकी विरासत पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। अक्सर देखा जाता है कि रचनात्मक साहित्य के विरासत की पहचान में दलित विमर्शकार मध्यकालीन संत कवियों तक जाते हैं, किन्तु आलोचना की दृष्टि से दलित विमर्श को शुद्ध रूप से समकालीन घटना ही मानते हैं। ऐसे में जब हम हिंदी के कतिपय आलोचकों की भूमिका पर बारीकी से विचार करते हैं, तो स्थिति इससे भिन्न नज़र आती है। इसी सन्दर्भ में आलोचक मुक्तिबोध की भूमिका पर यहाँ विचार करने का प्रयास किया गया है।

मुख्य भाग : रामविलास शर्मा का लेख 'संत साहित्य के अध्ययन की समस्याएँ' सन् 1955 में प्रकाशित हुआ था । जिसमें वह सगुण-निर्गुण, स्त्री-पुरूष आदि के विभेद की आलोचना करते हैं । इस लेख में वह यह प्रस्तावित करते हैं कि - "संतो में स्त्री और पुरूष, सन्यासी और गृहस्थ, हिन्दू और मुसलमान, सगुणवादी निर्गुणवादी दोनों हैं ।"[1] रामविलास शर्मा संत साहित्य के अध्ययन में सगुण और निर्गुण भक्त कवियों को अलग करके देखने की दृष्टि का विरोध करते हैं । संयोगवश इसी वर्ष मुक्तिबोध का चर्चित निबंध 'मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन का एक पहलू', 'नई दिशा' के मई 1955 अंक में छपा था । जिसमें उन्होंने कबीर और निर्गुण पंथ के अन्य कवियों को तुलसीदास आदि सगुणपंथ के कवियों की अपेक्षा 'अधिक आधुनिक' बताया था । इस संदर्भ में मुक्तिबोध लिखते हैं "मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता है कि कबीर और निर्गुण पंथ के अन्य कवि तथा दक्षिण के कुछ महाराष्ट्रीय संत तुलसीदास जी की अपेक्षा अधिक आधुनिक क्यों लगते हैं? क्या कारण है कि हिन्दी क्षेत्र में जो सबसे अधिक धार्मिक रूप से कट्टर वर्ग है, उनमें भी तुलसीदास जी इतने लोकप्रिय हैं कि उनकी भावनाओं और वैचारिक अस्त्रों द्वारा, वह वर्ग आज भी आधुनिक दृष्टि और भावनाओं से संघर्ष करता रहता है ?"[2]

मुक्तिबोध मार्क्सवादी आलोचक थे इसलिए उनका स्पष्ट मानना था "किसी भी साहित्य का ठीक-ठीक विश्लेषण तब तक नहीं हो सकता जब तक हम उस युग की मूल गतिमान सामाजिक शक्तियों से बनने वाले सांस्कृतिक इतिहास को ठीक-ठीक न जान ले।"[3] रामविलास शर्मा की तरह वह भी वर्ग-संघर्ष को रेखांकित करते हैं परंतु उनकी दृष्टि वर्ग की जटिलता पर भी जाती है । "उच्च वर्गीयों और निम्नवर्गीयों का संघर्ष बहुत पुराना है । यह संघर्ष निस्संदेह धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक क्षेत्र में अनेकों रूप में प्रकट हुआ। सिद्धों और नाथ संप्रदाय के लोगों ने जन-साधारण में अपना पर्याप्त प्रभाव रखा, किंतु भक्ति आंदोलन का जन साधारण पर जितना व्यापक प्रभाव हुआ उतना किसी अन्य आंदोलन का नहीं। पहली बार शूद्रों ने अपने संत पैदा किए, अपना साहित्य और अपने गीत सृजित किए । कबीर, रैदास, नाभा सिंपी, सेना नाई, आदि आदि महापुरूषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरूद्ध आवाज बुलन्द की। समाज के न्यस्त स्वार्थवादी वर्ग के विरूद्ध नया विचारवाद अवश्यम्भावी था । वह हुआ तकलीफें हुईं। लेकिन एक बात हो गई ।"[4] मुक्तिबोध की उपरोक्त टिप्पणी आज के दलित आंदोलन और उसके साहित्य पर भी सटीक बैठती है, फर्क सिर्फ इतना है कि समकालीन दलित रचनाकारों ने ईश्वर की जगह बुद्ध, फुले और अम्बेडकर के विचारों के आधार पर जातिवाद के विरूद्ध अपनी आवाज बुलन्द की है ।

"मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन को जन-जन तक पहुँचाने की भूमिका में मुक्तिबोध नीची कही जाने वाली जातियों से आए संत कवियों को देखते थे । इस संदर्भ में मुक्तिबोध ने स्पष्ट लिखा है "उत्तर भारत में निर्गुणवादी भक्ति-आंदोलन में शोषित जनता का सबसे बड़ा हाथ था । कबीर, रैदास आदि संतों की बानियों का संदेश तत्कालीन मानों के अनुसार बहुत अधिक क्रांतिकारी था ।"[5] जाति-प्रथा के विरूद्ध संघर्ष एवं

निर्गुण पंथी संतों की जाति को महत्त्व देते हुए भी मुक्तिबोध अपनी मार्क्सवादी पद्धति का त्याग नहीं करते। मुक्तिबोध वर्ग-संघर्ष की भूमिका को न सिर्फ जानते थे बल्कि उसका उपयोग अपने विश्लेषण में व्यावहारिक रूप में करते थे। इस संदर्भ में मुक्तिबोध की इस टिप्पणी को देखा जाना चाहिए- "कुरीतियों, धार्मिक अंधविश्वासों और जातिवाद के विरूद्ध कबीर ने आवाज उठायी। वह फैली। निम्न जातियों में आत्मविश्वास पैदा हुआ। उनमें आत्मगौरव का भाव हुआ। समाज की शासक सत्ता को यह कब अच्छा लगता ? निर्गुण मत के विरूद्ध सगुण मत का प्रारंभिक प्रसार और विकास उच्चवंशियों में हुआ। निर्गुण मत के विरूद्ध सगुणमत का संघर्ष निम्न वर्गों के विरूद्ध उच्चवंशीय संस्कारशील अभिरूचिवालों का संघर्ष था।"[6] इस सन्दर्भ में मैनेजर पाण्डेय आज के दलित साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता की तरफ़ ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखते हैं, अनुसार "दलित-साहित्य 'समझदार चुप' की जगह एक 'इंकार भरी चीख़' है और यही समकालीन दलित-साहित्य की मूलगामी विशेषता है। उनके अनुसार "इंकार से भरी हुई चीख की रचनाएँ हैं ये दलित रचनाएँ। इंकार। बहुत सारी चीजों का इंकार। ये जो रूढ़िवादी हिन्दू समाज है उसकी मान्यताएँ, उसके मूल्य उसके आदर्श इन सबका इंकार-अस्वीकार और अस्वीकार स्वभावतः चीख के साथ। समझदार चुप्पी के नाम पर नहीं। मौन की साधना का साहित्य दलित चेतना का साहित्य नहीं बन सकता है।"[7]

निम्न कही जाने वाली जातियों के संघर्ष को मुक्तिबोध सिर्फ सामाजिक आंदोलन के रूप में देखने के हिमायती नहीं थे। वे इस संघर्ष को शोषक और शासितों के संघर्ष के रूप में देखने के पक्षधर थे। तथाकथित उच्च जातियों का हित शासक वर्ग के हित से मेल खाता था अतएव वे भी नीची समझी जाने वाली जातियों के संघर्ष और साहित्य के विरोध में थे। तुलसीदास की आलोचना मुक्तिबोध इसी कारण करते हैं। उन्होंने लिखा "तुलसीदास ने भी निम्नजातीय भक्ति स्वीकार की किंतु उसको अपना सामाजिक दायरा बतला दिया। निगुर्ण मतवाद के जनोन्मुख रूप और उसकी क्रांतिकारी जातिवादी-विरोधी भूमिका के विरूद्ध तुलसीदासजी ने पुराण-मतवादी स्वरूप प्रस्तुत किया।"[8] इस तरह "एक बार भक्ति-आंदोलन में ब्राह्मणों का प्रभाव जम जाने पर वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा में कोई देर नहीं थी।"[9] मुक्तिबोध अपने इस लेख में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाते हैं। उन्होंने लिखा - "क्या यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत, एक भी प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण कवि निम्नजातीय शूद्र वर्गों से नहीं आया। क्या यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि कृष्ण भक्ति-शाखा के अंतर्गत रसखान और रहीम जैसे हृदयवान मुसलमान कवि बराबर रहे आये, किंतु रामभक्ति शाखा के अंतर्गत एक भी मुसलमान और शूद्र कवि प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण रूप से अपनी काव्यात्मक प्रतिभा विशद नहीं कर सका? जबकि यह एक स्वतः सिद्ध बात है कि निर्गुण शाखा के अंतर्गत ऐसे लोगों को अच्छा स्थान प्राप्त था।"[10]

मुक्तिबोध के ये सारे सवाल आज भी लगभग अनुत्तरित हैं। मुक्तिबोध के इन सवालों को समझे बिना समकालीन हिन्दी साहित्य को नहीं समझा जा सकता। आश्चर्य है कि दलित-साहित्य ने भी मुक्तिबोध के इन सवालों को भी गंभीरता से नहीं लिया। मुक्तिबोध का मानना है कि इसी कारण आगे चलकर

उच्चवर्गीय और उच्च वंशीय कहे जाने वालों ने भक्ति आंदोलन पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। इसी संदर्भ में मुक्तिबोध एक और महत्त्वपूर्ण सवाल उठाते हैं- "क्या कारण है कि निर्गुण भक्तिमार्गी जातिवाद-विरोधी आंदोलन सफल नहीं हो सका ? उसका मूल कारण यह है कि भारत में पुरानी समाज-रचना को समाप्त करनेवाली पूँजीवादी क्रांतिाकरी शक्तियाँ उन दिनों विकसित नहीं हुई थी।... स्वदेशी पूँजीवाद के विकास के साथ ही भारतीय राष्ट्रवाद का अभ्युदय और सुधारवाद का जन्म हुआ और उसने सामंती समाज-रचना के मूल आर्थिक आधार, यानी पेशवर जातियों द्वारा सामाजिक उत्पादन प्रणाली समाप्त कर दी। गाँवों की पंचायती व्यवस्था टूट गयी। ग्रामों की आर्थिक आत्मर्निभरता समाप्त हो गयी।"[11]

आज का दलित आंदोलन भी पूँजीवादी क्रांतिकारी शक्तियों की ऐतिहासिक भूमिका को स्वीकार करता है। अम्बेडकर ने भी इसे स्वीकार किया है। फुले और अम्बेडकर की पूरी चिंतन प्रक्रिया को इस संदर्भ में देखा जा सकता है। मुक्तिबोध की इस बात को आज के दलित आंदोलन को गंभीरता से समझने की जरूरत है। इतिहास में असफल हुए सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक आंदोलनों का सच्चा विश्लेषण, आगे के आंदोलनों की नींव को पक्का करता है। आज के दलित-साहित्य को भी सिर्फ सामाजिक बदलाव से ऊपर उठकर राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक बदलावों से खुद को जोड़ना होगा। मुक्तिबोध का यह कथन यहाँ उल्लेखनीय है- "निम्न जातीय वर्गों के इस सांस्कृतिक योग की अपनी सीमाएँ थीं। ये सीमाएँ उन वर्गों की राजनैतिक चेतना की सीमाएँ थीं। आधुनिक अर्थों में, वे वर्ग कभी जागरूक सामाजिक-राजनैतिक-संघर्ष पथ पर अग्रसर नहीं हुए।"[12] मुक्तिबोध इस संघर्षहीनता का मूल कारण 'भारत की सामंतयुगीन सामाजिक-आर्थिक रचना' में देखते हैं। आज भी यह स्थिति पहले की तुलना में बहुत नहीं बदली है। शासक वर्ग और उच्चवर्ग की एकता का स्वरूप आज ज्यादा जटिल हुआ है। इसलिए दलित-साहित्य पर दायित्व भी बड़ा है। मुक्तिबोध का लेखन उस ओर गंभीरता से इशारा करता है।

मुक्तिबोध के लिए जाति का प्रश्न एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जाति की समस्या एवं ब्राह्मणवाद को वह किसी भी तरह के प्रगतिशील साहित्य की रचना में बाधक मानते थे। इसके लिए वह समाजविरोधी इन शक्तियों की सच्ची पहचान को महत्त्वपूर्ण मानते थे। वह निर्गुणपंथ में ब्राह्मण एवं ब्राह्मणेतर जातियों के विभेद को स्वीकार नहीं करते। उनके लिए सामाजिक समानता के लिए किया जाने वाला संघर्ष महत्त्वपूर्ण था। मुक्तिबोध का चिंतन एवं उनका यह लेख दलित-साहित्य के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान बिंदु है। मुक्तिबोध जाति एवं वर्ग दोनों ही आधार पर समानता के पक्षधर हैं। मुक्तिबोध की यह टिप्पणी यहाँ उल्लेखनीय है- "सामंतवादी काल में इन जातियों को सफलता प्राप्त नहीं हो सकती थी, जब तक कि पूँजीवादी समाज-रचना सामंती समाज-रचना को समाप्त न कर देती। किन्तु सच्ची आर्थिक-सामाजिक समानता तब तक प्राप्त नहीं हो सकती, जब तक कि समाज आर्थिक-सामाजिक आधार पर वर्गहीन न हो जाए।"[13] मुक्तिबोध का यह विश्लेषण ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। जो भी व्यक्ति साहित्य के जनपक्षधर रूप का समर्थक है, वह मुक्तिबोध से अवश्य सहमत होगा। समकालीन साहित्य में जगत एवं राजनीतिक

जगत में चलने वाले वर्ग बनाम जाति के विवाद का यह माकूल जवाब है । सामाजिक मुक्ति के साथ-साथ आर्थिक मुक्ति की जरूरत को मुक्तिबोध यहाँ प्रस्तावित करते हैं।

निष्कर्ष : मुक्तिबोध के लिए वर्गहीन समाज वह है जहाँ जाति और अर्थ के आधार पर भेद का अस्तित्व न रहे । वह यह प्रस्तावित करते हैं कि समाज का अंतिम रूप से कल्याण वर्गहीन होने में ही है पर रास्ता सामाजिक मुक्ति से होकर ही गुजरेगा । जाति प्रश्न एवं दलित-साहित्य पर विचार करने वालों के लिए मुक्तिबोध का चिंतन बहुत महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है।

****

1 रामविलास शर्मा, परम्परा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ. सं. 91

2 नेमिचंद्र जैन (संपा), मुक्तिबोध रचनावली : पाँच, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 1985, पृ. सं. 288

3 उपरोक्त, पृ. सं. 289

4 उपरोक्त,पृ. सं. 290

5 नेमिचंद्र जैन (संपा), मुक्तिबोध रचनावली : पाँच, पृ. सं.-290

6 उपरोक्त,पृ. सं. 291

7 सर्वेश कुमार मौर्य (संपा), मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और दलित दृष्टि, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015, पृ. सं. 24

8 नेमिचंद्र जैन (संपा), मुक्तिबोध रचनावली : पाँच, पृ. सं. 291

9 मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और दलित दृष्टि पृ. सं. 291

10 उपरोक्त, पृ. सं. 292

11 नेमिचंद्र जैन (संपा), मुक्तिबोध रचनावली : पाँच, पृ. सं. 293

12 मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और दलित दृष्टि, पृ. सं. 295

13 उपरोक्त, पृ. सं. 296-97

****